

पत्रकारिता का एक अलग ही तेवर थे स्व. प्रभाष जोशी



(पुण्य तिथि 16 जुलाई)

अशोक वाजपेयी उन दिनों मध्य प्रदेश शासन में संस्कृति सचिव थे। भारत भवन का काम भी उन के जिम्मे था। जाने क्यों प्रभाष जोशी सर्वदा अशोक वाजपेयी के पीछे पड़े रहते थे। कोई न कोई रिपोर्ट उन के खिलाफ छापते रहते थे। एकाधिक बार मुहिम की तरह। पूरी टीम लगा देते। भोपाल से जनसत्ता के संवाददाता महेश पांडेय, इंडियन एक्सप्रेस के संवाददाता एन.के. सिंह और दिल्ली से आलोक तोमर लगातार एक साथ लिखते रहते। खोज-खोज कर, खोद-खोद कर लिखते। प्रभाष जोशी खुद भी लिखते। हालां कि अशोक वाजपेयी की कोई प्रतिक्रिया नहीं आती। लेकिन जब एक बार बहुत हो गया तो एक लंबा प्रतिवाद भेजा अशोक वाजपेयी ने। हम भी मुंह में जुबां रखते हैं लेकिन.....! शीर्षक से।

image.png

प्रभाष जोशी ने अशोक वाजपेयी के इस प्रतिवाद को बिना किसी काट-छांट के छपा भी जनसत्ता के पूरे आधे पेज में। बिल्कुल ऊपर। बाकी के आधे पेज पर नीचे अशोक वाजपेयी के प्रतिवाद पर प्रतिवाद छपा था। जिसे तीन लोगों ने लिखा था। प्रभाष जोशी, आलोक तोमर और एन.के. सिंह ने। किसी मसले पर किसी दैनिक अखबार ने इस के पहले या बाद में भी इस तरह पूरे पेज पर प्रतिवाद छपा हो, वह भी किसी अफसर की ओर से, मुझे नहीं याद आता। इस प्रतिवाद में भी कई दिलचस्प प्रसंग थे। जैसे कि एक जगह अशोक वाजपेयी ने लिखा था कि आप कुछ लाख रुपयों के पीछे पड़े हैं और यहां मेरी कलम से हर साल करोड़ों रुपए खर्च होते हैं। फिर उन्होंने ने एकाउंट से संबंधित किसी शब्द का जिक्र करते हुए लिखा था कि उस शब्द का हिंदी अनुवाद भी आप को ठीक से नहीं मालूम तो किस हैसियत से किसी लेखा-जोखा का आप हिसाब-किताब करेंगे ?

जोशी जी ने अशोक वाजपेयी का जवाब कुछ इस तरह से तब दिया था कि- चूक हुई। क्यों कि यह रिपोर्ट कलकत्ता से पटना की फ़्लाइट में लिखी गई। पटना से फिर दिल्ली की फ़्लाइट में देखी गई। दिल्ली आ कर रिपोर्ट आफ़िस में दे कर जल्दी में चला गया क्यों कि बंबई की फ़्लाइट पकड़नी थी। इस लिए चूक हुई।

गरज यह कि ग़लती भी इस मठाधीशी से स्वीकारी जोशी जी ने कि अगर आप करोड़ों रुपए का बजट

खर्च करते हैं तो हम भी कोई ऐरे-गैरे नहीं हैं। एक दिन में तीन-तीन फ़्लाइट पकड़ते हैं। और कि फ़्लाइट में भी काम करते रहते हैं। जो हो अशोक वाजपेयी का पीछा जोशी जी ने फिर भी नहीं छोड़ा। लगातार वार पर वार करते रहे। बाद के दिनों में प्रभाष जोशी जनसत्ता के संपादक पद से विश्राम ले बैठे। अशोक वाजपेयी भी दिल्ली आ गए। तो भी जोशी जी ने एक बार कागद कारे में अशोक वाजपेयी की चर्चा करते हुए लिखा कि इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के बार में अब हिंदी गालियां भी सुनाई देती हैं।

जनसत्ता के शुरुआती दिनों में जोशी जी एक बार लखनऊ गए। लखनऊ में जनसत्ता के तब के संवाददाता जय प्रकाश शाही ने राजकीय अतिथि गृह में जोशी जी के रहने की व्यवस्था करवाई। और सूचना विभाग से कह कर एक सरकारी कार उन की सेवा में ले कर अमौसी एयरपोर्ट पहुंचे। जोशी जी ने सरकारी कार एयरपोर्ट से ही वापस कर दी। एक टैक्सी ली और राजकीय अतिथिगृह में ठहरने के बजाय तब के एक सब से बड़े होटल में ठहरे। जयप्रकाश शाही को समझाया भी कि अच्छा पत्रकार बनने के लिए ज़रूरी है कि सरकारी सुविधाएं न ली जाएं। बाद के दिनों में कभी मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री रहे मोती लाल वोरा उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बन कर लखनऊ आ गए। फिर दुर्भाग्य से उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लग गया। शासन प्रशासन का काम काज बतौर राज्यपाल मोती लाल वोरा देखने लगे। प्रभाष जोशी को उन्होंने ने उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान की गांधी समिति का सदस्य नामित करवा दिया। फिर वोरा जी ने हिंदी संस्थान का एक लखटकिया पुरस्कार भी जोशी जी को दिलवा दिया। जल्दी ही उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन खत्म हो गया। मायावती मुख्यमंत्री बनीं। और गांधी को शैतान की औलाद कहने लगीं। बहुत बवाल मचा पर मायावती टस से मस न हुईं। उन्हीं दिनों हिंदी संस्थान का पुरस्कार वितरित किया गया। प्रभाष जोशी भी अपना लखटकिया पुरस्कार लेने आए। राजकीय अतिथि बन कर राजकीय विमान से। सपरिवार आए और राजभवन में ठहर कर मोती लाल वोरा का आतिथ्य स्वीकार किया। मायावती से लखटकिया पुरस्कार ले कर राजकीय विमान से ही वापस दिल्ली लौटे। वापस लौटने पर हफ़्ते भर के भीतर ही उन्होंने ने उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान की गांधी समिति की सदस्यता से इस्तीफ़ा दे दिया। क्या तो उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री मायावती महात्मा गांधी को शैतान की औलाद कह रही हैं। ऐसे में गांधी समिति का सदस्य बने रहना उन के लिए संभव नहीं है। और कि वह इस का विरोध करते हैं।

यह क्या था ?

पुरस्कार लेने के पहले भी आप विरोध कर सकते थे, पुरस्कार ठुकरा भी सकते थे आप। पर पुरस्कार ले लेने, राजकीय अतिथि का भोग लगा लेने के बाद ही आप को यह सूझा ? जब कि यह विवाद पहले ही से गरम था। इधर के दिनों में उन पर ब्राह्मणवादी होने का आरोप गहरा गया था। हालां कि जब मैं मुड़ कर देखता हूं तो पाता हूं कि प्रभाष जोशी और तो बहुत कुछ थे पर ब्राह्मणवादी हरगिज नहीं थे। इस पर कागद कारे में उन्होंने सफ़ाई भी दी थी। गो कि इस की ज़रूरत थी नहीं।

खैर। तो बात बनवारी की हो रही थी। बनवारी जनसत्ता टीम में जाहिर है प्रभाष जोशी की पहली पसंद थे। सती प्रथा के समर्थन का जो दाग लगा प्रभाष जोशी पर उस के मूल में बनवारी का लिखा संपादकीय ही था। बनवारी का लिखा यह संपादकीय चर्चा में आ गया और प्रभाष जोशी समेत जनसत्ता भी। तब इस का खूब विरोध हुआ था। पर जोशी जी नहीं झुके तो नहीं झुके। कई लेखकों ने तब बाकायदा हस्ताक्षर अभियान चला कर जनसत्ता का न सिर्फ़ बहिष्कार करने का आह्वान किया बल्कि जनसत्ता में

नहीं लिखने का भी फ़ैसला किया। जोशी जी तब भी नहीं डिगे तो इस लिए भी शायद कि इस नाते अख़बार खूब चर्चा में बना रहा था बहुत दिनों तक। जोशी जी के न झुकने का मिजाज तो बहुतेरे लोग जानते थे। पर एक सामाजिक कुप्रथा को ले कर अड़ जाने पर लोग अचरज में थे। पर मैं नहीं था। क्यों कि मुझे याद था कि जनसत्ता के शुरुआती दिनों की मीटिंग में जोशी जी राजस्थान पत्रिका के अचानक उछाल पाने की चर्चा करते नहीं अघाते थे। और बताते थे कि राजस्थान पत्रिका ने अपने शुरुआती दिनों में एक चर्चा चलाई कि परिवार नियोजन के चलते तमाम लोग जो मनुष्य योनि में पैदा नहीं हो पा रहे हैं और ऊपर ही लटके पड़े हैं, उन का क्या होगा? यह चर्चा ज़ोर पकड़ गई। खुली बहस में पाठकों ने बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया और राजस्थान पत्रिका अख़बार न सिर्फ़ चल पड़ा बल्कि छा गया राजस्थान में तब। तो शायद जोशी जी के मन में यह मनोविज्ञान भी कहीं गहरे बैठा रहा होगा और सती प्रथा जैसी कुप्रथा के भी महिमामंडन में लगे रहे।

तो क्या यह सिर्फ़ राजस्थान पत्रिका द्वारा चलाई गई बहस कि परिवार नियोजन के चलते जो लोग मनुष्य योनि में नहीं पैदा हो पा रहे हैं, उन का क्या होगा? वाली बहस का मनोविज्ञान भर ही था? शायद पूरी तरह नहीं। बहुत कम लोग जानते हैं कि जनसत्ता छपने के साल भर के भीतर ही बनवारी प्रभाष जोशी से रूठ गए थे। बुरी तरह रूठ गए थे। हुआ यह कि बनवारी की लिखी एक संपादकीय में जोशी जी ने कुछ बदलाव कर दिए। दूसरे दिन बनवारी दफ़्तर नहीं आए। उन का इस्तीफ़ा आया। जोशी जी हिल गए। उन को यह कतई अंदाज़ा नहीं था कि उन का एक सहायक संपादक जिस को कि वह चाहते भी बहुत थे, एक संपादकीय में बदलाव को ले कर इतना खफ़ा हो जाएगा कि इस्तीफ़ा दे जाएगा। उन्होंने ने बहुत मनाया, समझाया बनवारी को। पर वह हरगिज़ तैयार नहीं हुए दफ़्तर आने को। बनवारी का कहना था कि अगर मेरी लिखी संपादकीय आप को पसंद नहीं थी तो आप संपादक थे, आप उसे रोक सकते थे। पर आप ने तो उस को बदल दिया। बात ही बदल दी और मुझे सूचित तक नहीं किया। जोशी जी सपत्नीक बनवारी के घर गए। उन को मनाने। बनवारी फिर भी नहीं माने। वे दिन बड़ी मुश्किल के थे। इंदिरा गांधी की हत्या हो गई थी। देश में और दिल्ली में भी दंगे बढ़ते जा रहे थे। दिल्ली में कर्फ्यू था। और बनवारी जो तब न सिर्फ़ प्रभाष जोशी के दिल के करीब रहते थे, जनसत्ता दफ़्तर से भी सब से करीब रहते थे, मिंटो रोड पर, वह ही नहीं आ रहे थे। कर्फ्यू और दंगे के चक्कर में डेस्क के कुछ सहयोगी दफ़्तर नहीं आ पा रहे थे। दिल्ली सेना के हवाले थी। सेना के लोग प्रेस का मतलब समझना ही नहीं चाह रहे थे। एक रात दफ़्तर से घर लौट रहे कुछ सहयोगियों को सेना के जवानों ने पकड़ लिया। दफ़्तर की जिस कार से सहयोगी जा रहे थे, उस कार के नाम तो कर्फ्यू पास था, पर कुछ सहयोगियों के पास नहीं। बस इतना काफी था। जवान किसी की बात सुनने को तैयार नहीं थे। सभी धर लिए गए। तब मोबाइल का ज़माना भी नहीं था। बहुत दौड़ धूप के बाद दूसरे दिन लोग छूट पाए थे। तब जोशी जी खुद जनरल डेस्क पर घंटों जमे रहते थे। किसी सब एडीटर की तरह खबरें छांटते, बीनते, बनाते हुए। खैर, दंगा बीत गया, कर्फ्यू बीत गया पर बनवारी नहीं आए। पर जोशी जी उन को मनाना नहीं भूले। अंततः बनवारी मान गए। दफ़्तर आने लगे। जोशी जी की पुलक तब देखने लायक थी।

यह प्रभाष जोशी का बड़प्पन भी था। मैं ने कई संपादकों के साथ काम किया है। जिन में अरविंद कुमार, प्रभाष जोशी और वीरेंद्र सिंह को मैं दुर्लभतम संपादकों में गिनता हूँ। कुछ मूर्ख, जाहिल, साक्षर, गधे और दलाल टाइप रीडहीन संपादकों के साथ भी काम करने का दुर्भाग्य मिला है। तमाम और भी अच्छे

संपादकों से भी लगातार बाबस्ता रहा हूँ। जैसे रघुवीर सहाय, कमलेश्वर, मनोहर श्याम जोशी, कन्हैयालाल नंदन, रवींद्र कालिया। अरविंद कुमार जो टाइम्स आफ इंडिया की हिंदी फ़िल्म पत्रिका माधुरी के संस्थापक संपादक हैं, 16 साल तक माधुरी निकालने के बाद सर्वोत्तम रीडर्स डाइजेस्ट के भी संस्थापक संपादक वह हुए। सर्वोत्तम में ही उन के साथ काम किया। बाद में वह हिंदी थिसारस के लिए जाने गए। अरविंद जी को मैं उन की विद्वता, सरलता और काम सिखाने की विह्वलता में उदारता के लिए याद करता हूँ। वीरेंद्र सिंह स्वतंत्र भारत लखनऊ के संपादक थे। रीढ़ के पक्के थे। प्रबंधन या सत्ता के आगे कभी झुके नहीं। और ऐसा कोई विषय नहीं था जिस के बारे में उन्हें जानकारी न हो, खेल, फ़िल्म, साहित्य, राजनीति से ले कर खगोलशास्त्र तक में वह निपुण थे। लेकिन प्रभाष जोशी अकेले मिले जो अपने आप में एक चलता फिरता अखबार थे। एक साथ क्रिकेट से शास्त्रीय संगीत तक पर लिखते थे। दूसरे, जब ज्यादातर संपादक रिपोर्टों को दायम दर्जे का मानते रहे तब भी प्रभाष जोशी रिपोर्टों को अव्वल दर्जे का मानते थे। वह कहते थे कि रिपोर्टर हमारी भुजा हैं। हमारी भुजा जो कमजोर होगी, तो हम भी कमजोर होंगे। अखबार कमजोर होगा। इस लिए रिपोर्टर को मज़बूत करिए, आप मज़बूत होंगे, अखबार मज़बूत होगा। ऐसा डेस्क पर आ कर वह अकसर कहा करते। आलोक तोमर तब यों ही नहीं स्टार हो गए थे। प्रभाष जोशी अकेले ऐसे संपादक मिले मुझे जिन्हें मैं ने देखा कि जब वह दफ़्तर आते तो बाकायदा पीली पर्ची पर लिख कर डेस्क को भेजते कि फला खबर पर बाइलाइन क्यों नहीं है? वह तो कहते कि अगर रूटीन खबर भी रिपोर्टर ने ट्रीट की है तो उसे बाइलाइन दी जानी चाहिए। भले वह प्रेस कांफ्रेंस भी क्यों न हो? एक दिन में दो खबर पर भी जो बाइलाइन देनी पड़े तो दीजिए! रिपोर्टों से भी वह कहते कि आप अपने को रूटीन खबरों में मत उलझाइए। वह तो एजेंसी से मिल जाएगी। आप एक्सक्लूसिव खबर भेजिए। उन के पास जो कोई यह शिकायत भी ले कर आता कि आप का फला रिपोर्टर मुझे ब्लैकमेल कर रहा है! तो वह छूटते ही पूछते कि वह तो ग़लत कर ही रहा है, पर आप बताइए कि आप ब्लैकमेल हो क्यों रहे हैं? और जो रिपोर्टर के खिलाफ ज़रा भी कुछ मिल जाता तो वह उसे भी बर्ख़ास्त नहीं थे। वह चाहे आलोक तोमर रहे हों या राकेश कोहरवाल। रास्ता दिखा दिया। अब तो तमाम संपादकों को अखबार मालिकों और उन के बच्चों के चरण चूमते-चाटते देखता हूँ। पर मैं ने ही क्या बहुतों ने विवेक गोयनका को बार-बार प्रभाष जोशी के पीछे-पीछे चलते देखा है जब कि रामनाथ गोयनका के वह बगल में चलते थे। और जी हूजुरी भी करते किसी ने नहीं देखा उन को। उलटे विवेक गोयनका को मैं ने जोशी जी की मनुहार करते भी देखा है। और जोशी जी हर बार मान ही गए हों ऐसा भी नहीं था।

शुरू के दिनों में जोशी जी जब जनसत्ता संपादकीय विभाग में आते तो सहयोगियों से लगभग आह्वान करते हुए आते, 'खबर छोटी, खबर ज्यादा।' पर लाख कोशिश के बावजूद खबर तो ज्यादा ज़रूर हो जाती थी, छोटी नहीं हो पाती थी। कारण यह था और अखबारों की अपेक्षा जनसत्ता अखबार का पेट कहीं ज्यादा बड़ा था। खबरें ज्यादा खाता था यह अखबार। क्यों कि अखबार में विज्ञापन नाम मात्र का होता। कई बार नहीं भी होता। यह एक बड़ी प्रबंधकीय चूक थी। पर खामियाजा लांग रन में अंततः जनसत्ता को उठाना पड़ा। हुआ यह कि जनसत्ता का संपादकीय स्टाफ़ तो जैसे और जितना जोशी जी ने चाहा रखा। पर बाकी विज्ञापन, प्रसार तथा अन्य कार्यों के लिए वह इंडियन एक्सप्रेस के स्टाफ़ पर निर्भर हो गए। दिक्कत यह थी कि इंडियन एक्सप्रेस कुल मिला कर एक अंगरेजी सेट-अप वाला संस्थान था। वहां हिंदी की बढ़ती खुशबू को अंगरेजी सेट-अप में जीने वालों ने बर्दाश्त नहीं किया। पता

नहीं सब कुछ देखने और समझने वाले प्रभाष जोशी इस चूक और इस छेद को क्यों नहीं देख पाए। विज्ञापन के लिए इंडियन एक्सप्रेस की अंगरेजीदां लड़कियां फ़ील्ड में जातीं तो इंडियन एक्सप्रेस के लिए तो विज्ञापन लातीं साथ में फाइनेंसियल एक्सप्रेस के लिए भी। पर वह हिंदी अखबार जनसत्ता के लिए भूल जातीं। सरकारी विज्ञापनों में भी मैनेजर लोग जनसत्ता के लिए कुछ खास मैनेज नहीं कर पाते थे। हां, अखबार का सरकुलेशन इस सब के बावजूद अपनी शान और रफ़्तार पर था। क्यों कि उस में जनता की धड़कन थी। एक रिश्ता था। सरोकार का रिश्ता। पर यह शान और रफ़्तार भी ज्यादा दिनों तक बरकरार नहीं रह पाई। तो भी उन दिनों जोश था हिंदी पट्टी में जनसत्ता पढ़ने का, गुनने का और बुनने का।

मुझे याद है जोशी जी ने एक बार मीटिंग में सभी सहयोगियों से जनसत्ता के लिए एक-एक स्लोगन लिखने के लिए कहा। कहा कि कवितामय होना चाहिए। सभी ने बड़े उत्साह से लिखा। पर जनसत्ता का स्लोगन बना कुमार आनंद का लिखा हुआ स्लोगन 'सब की खबर ले, सब को खबर दे!' जोशी जी को सब से ज्यादा यही पंसद आया। और दिल्ली शहर सहित देश में भी तमाम होर्डिंग्स पर या विज्ञापनों में यही स्लोगन फहराया। सचमुच जनसत्ता तब सब की खबर ले, सब को खबर दे का पर्याय बन गया था। तब के दिनों में देश का हर खासो-आम जनसत्ता में अपनी आवाज़, अपना अक्स देखता था। और माफ़ कीजिए जनसत्ता मतलब तब रामनाथ गोयनका का या एक्सप्रेस ग्रुप का अखबार भर नहीं, प्रभाष जोशी के अखबार के रूप में लोग जानते थे। यह बहुत बड़ी परिघटना थी हिंदी पत्रकारिता में। किसी अंगरेजी संस्थान में हिंदी की तूती इस तरह बजी कि न भूतो न भविष्यति। वो जो कहते हैं न कि आंख अपना मजा चाहे है, दिल अपना मज़ा! तो खासियत यह भी थी कि जनसत्ता एक साथ अखबार और पत्रिका दोनों का मज़ा एक साथ देता था तब। खास खबर और खोज खबर पन्ने के मार्फ़त देश भर की जनपदीय पत्रकारिता से जुड़ने का यह दुर्लभ संयोग था। जिस में संवाददाता के अलावा भी कोई कैसी भी लेकिन प्रामाणिक खबर लिख कर छप सकता था। छपते ही थे लोग। दरअसल सचाई यह थी कि कलकत्ता से छपने वाली पत्रिका रविवार ने हिंदी पत्रकारिता में जो तेवर ; जो खानी रोपी थी, उसी खानी और उसी तेवर को जनसत्ता ने परवान चढ़ाया।

बहुत कम लोग इस बात को संजो कर याद कर पाते हैं कि हिंदी पत्रकारिता में दरअसल अंगरेजी के एम.जे. अकबर का बहुत बड़ा योगदान है। तब के दिनों वह भारतीय पत्रकारिता में सब से यंगेस्ट एडिटर कहलाए थे। आनंद बाज़ार पत्रिका ग्रुप के अंगरेजी साप्ताहिक संडे का एडिटर बन कर। हिंदी में रविवार भी एम.जे. अकबर की ही परिकल्पना थी। वह खुद इलस्ट्रेटेड वीकली से गए थे। तो जब रविवार की बात हुई तो वह धर्मयुग से सुरेंद्र प्रताप सिंह, उदयन शर्मा सरीखों को भी ले गए। मेला के लिए धर्मयुग से योगेंद्र कुमार लल्ला को। हिंदी में तब दिनमान पत्रिका थी ज़रूर पर अंगरेजी अनुवाद के जूठन से अटी और रघुवीर सहाय के ठसपने से सटी पड़ी थी। रविवार ने अंगरेजी अनुवाद और ठसपने से हिंदी पत्रकारिता को लगभग मुक्त करने की पहल की थी। और जनसत्ता ने प्रभाष जोशी के नेतृत्व में इस को ले कर हल्ला बोल दिया। चिंगारी शोला बन गई और हिंदी पत्रकारिता में एक नया बिरवा रोप गई। प्रभाष जोशी के संपादन और उन की भाषा ने एक नई चमक उपस्थित की हिंदी पत्रकारिता में। जिसे अभी तक फिर से दुहराया नहीं जा सका। हिंदी पत्रकारिता में भाषा और समाज को बदलने का वह उफान, वह इबारत प्रभाष जोशी के बाद फिर कोई नहीं रच पाया वह उफान, नहीं लिख

पाया कोई नई इबारत ! प्रभाष जोशी इसी लिए हमारे लिए सैल्यूटिंग हो जाते हैं। और सिर्फ़ इसी लिए भर नहीं कारण और भी बहुतेरे हैं कि प्रभाष जोशी को हम सदा-सर्वदा सैल्यूट करते रहें। उन की कुछ ज़िद, कुछ तानाशाही, कुछ हिप्पोक्रेसी और कुछ नापसंदगी को दरकिनार कर दें तो प्रभाष जोशी के पास इतने सारे प्लस हैं, इतने सारे अवयव हैं, इतने सारे काम हैं कि उन्हें सिर्फ़ हिंदी पत्रकारिता में ही नहीं, भारतीय पत्रकारिता में भी बार-बार याद किया जाएगा। मैं पाता हूँ कि जीते जी तो वह किसी खोह में नहीं ही थे, मरने के बाद भी किसी खोह में नहीं जाएंगे। वह जब जीवित थे तब अकसर कबीर को कोट करते हुए कहते थे, 'जंह बैठे तंह, छांव !' और सच ही कहते थे।

उन का कालम कागद कारे संभवतः इकलौता कालम है जो इतने लंबे समय तक कोई 17 साल तक लगभग अविराम लिखा गया। बाई पास के बावजूद अस्पताल से भी वह कागद कारे लिखते ही रहे। इतनी संलग्नता, इतनी जीवटता मैं ने किसी और कालमिस्ट में नहीं देखी, नहीं पाई। खास कर ऐसे समय में जब अपने देश का एक प्रधानमंत्री बाई पास के लिए गणतंत्र की परेड छोड़ देता है। पर प्रभाष जोशी मरते हुए भी अपना कालम नहीं छोड़ते। सच कहना नहीं छोड़ते। सोचिए कि प्राण त्यागने की घड़ी आ पहुंची है और वह कागद कारे भेज रहे हैं इस की सूचना जनसत्ता में भेजना नहीं भूलते। यह प्रभाष जोशी ही कर सकते थे। बीच में उन के कागद कारे में जब उन की माता जी, भेन जी यानी पत्नी ज्यादा आने लगीं, या क्रिकेट ज्यादा छाने लगा तो लोग उबने लगे कागद कारे से। पर जल्दी ही वह पारिवारिक प्रसंगों और क्रिकेट के ताप को बिसार कर कारे कागद को तोप मुकाबिल बना बैठे। कागद कारे पढ़ना अनिवार्यता बन गया लोगों के लिए। कभी प्रभाष जोशी हिंदी में शब्दों के दुरुपयोग और अज्ञानता के बोझ से उबारने के लिए 'सावधान पुलिया संकीर्ण है' जैसे लेख लिखा करते थे। राजनीति और समाज के चौखटे तो उन के नियमित लेखन के हिस्से थे। कई बार वह लामबंद भी हुए। पर इधर पत्रकारिता में बढ़ते नरक को ले कर, व्यूरो को नीलाम होने से ले कर, विज्ञापन को खबर बना कर छापने को ले कर जिस तरह और जिस कदर टूट पड़े थे, हल्ला बोल रहे थे, किसी एक्टिविस्ट की तरह वह हैरतंगेज भी था, लोमहर्षक भी। इस उम्र और तमाम बीमारियों के बावजूद उन के जीवट होने का तर्क भी। कभी विनोबा के साथ मिल कर जमींदारों से भूदान करवाया था, कभी चंबल के डाकुओं का आत्मसमर्पण कराने में उन्होंने जे.पी. का सहयोग किया था, इमरजेंसी में लोकतंत्र बहाली का आंदोलन चलाया था, अब वह पत्रकारिता के डाकुओं का आत्मसमर्पण करवाने की मुहिम में लग गए थे। मीडिया में लोकतंत्र बहाली की लड़ाई लड़ रहे थे, कि देश में लोकतंत्र तभी बचेगा जब मीडिया बचेगा। वह जल रहे थे और पूरा देश घूम-घूम कर एक किए थे इस खातिर। अखबारों में उन के इन भाषणों की रिपोर्ट नहीं छपती थी। तो भी वह अलख जगा रहे थे जिस की गूंज उन के कागद कारे के साथ ही इंटरनेट के तमाम पोर्टलों और ब्लागों पर लगातार सुनाई देती थी।

एक समय प्रभाष जोशी पंजाब में भिंडरावाला की करतूतों के खिलाफ सिलसिलेवार लिख रहे थे। तकरीबन हर हफ़्ते। पहले पेज से ले कर संपादकीय और रविवारीय पेज तक पर। तब कुछ सहयोगी उन्हें दबी जबान हिंदू भिंडरावाला कहते। पर वह इस सब की परवाह किए बिना जैसे भिंडरावाला और उस के आततायियों की गोलियों का जवाब अपनी कलम से ताबड़तोड़ देते रहते थे। और इन दिनों जब वह खबरों को बेचने के खिलाफ ताबड़तोड़ हल्ला बोल रहे थे तो भी उन ताकतों पर कुछ खास फर्क नहीं पड़ रहा था तो मुझे जाने क्यों कई बार लगा कि इस महाभारत में प्रभाष जोशी विदुर की भूमिका में आ

गए हैं। कोई कौरव उनकी सुन नहीं रहा था, पांडव अद्भुत रूप से अनुपस्थित थे और वह लगातार खबरों की पवित्रता का आलाप लगा रहे थे, अज्ञान कर रहे थे, घंटा-घड़ियाल बजा रहे थे। लेकिन उन की नमाज, या पूजा में कोई कौरव शामिल होने के लिए उन की आवाज़ सुनने को भी तैयार नहीं दिखा, शामिल होना तो बड़ी दूर की कौड़ी थी। तो भी जोशी जी के जोश में कभी कमी नहीं दिखी।

बीते साल 26 नवंबर को लोगी टी.वी. पर क्रिकेट मैच देख रहे थे और मुंबई में समुद्री रास्ते से आतंकवादी घुस आए थे और मुंबई में कई जगह सिलसिलेवार हमला बोल दिया था। कागद कारे में प्रभाष जोशी ने उस क्रिकेट मैच को कोसा था। क्यों कि समुद्र किनारे किसी मजदूर बस्ती की एक औरत ने बयान दिया था न्यूज़ चैनलों पर कि पूरी बस्ती में लोग अपने-अपने घरों में क्रिकेट मैच देख रहे थे इस लिए आतंकवादियों को जाते किसी ने नहीं देखा। प्रभाष जोशी को पहली बार क्रिकेट मैच को कोसते पाया था। तब भला क्या जानता था कि क्रिकेट मैच के हार के ग़म में ही वह विदा भी हो जाएंगे। पूछना चाहता हूं उन से कि हे प्रभाष जोशी, देश में क्या और समस्याएं कम थीं आप को मारने के लिए या आप को हिलाने के लिए, आप के पेस मेकर को बंद करने के लिए जो आप क्रिकेट जैसे टुच्चे खेल की हार की ग़म में निसार हो गए! अगर यह सच है तो! अरे जाना ही था तो इस खबर बेचने की पूंजीपतियों की रवायत पर जाते, मंहगाई पर जाते, किसानों की आत्महत्या पर जाते सरकार और समाज के लगातार अमरीकापरस्त होते जाने के विरोध में जाते, जातीयता या क्षेत्रीयता के बढ़ते दबाव के प्रतिरोध में जाते! पर आप भी! आप का आत्म वृत्तांत ओटत रहे कपास अब कौन लिखेगा ?

जाने क्यों कई बार लगता है कि जैसे उन्हें अपने जाने का एहसास हो गया था। जैसे अब वह अपने सभी कामों को समेट रहे थे। एक इंटरव्यू में कागद कारे का जिक्र करते हुए उन्होंने ने कहा था कि 75 की उम्र तक सब निपटा दूंगा। 75 के बाद कोई लिखना नहीं।

इसी लिए मैं ने शुरू में लिखा कि नर्मदा के किनारे प्रभाष जोशी की देह नहीं जली है, मैं ही जल गया हूं। मेरी कलम में उन के हाथ सांस ले रहे हैं। तो यह यों ही नहीं लिख दिया है भावुकता में बह कर। महात्मा गांधी ने कहीं लिखा है कि, 'महापुरुषों का सर्वश्रेष्ठ सम्मान हम उन का अनुकरण कर के ही कर सकते हैं।' तो प्रभाष जोशी भारतीय पत्रकारिता के महापुरुष थे, इस में कोई शक नहीं। हम उन का अनुकरण कर अपनी कलम में उन के हाथों की सांस भर सकते हैं। मैं ही क्यों तमाम-तमाम लोग जो उन के चाहने वाले हैं कर सकते हैं। कहते हैं कि हर बाप की मौत में बेटे की मौत होती। बेटा परंपरा है, सफर करता रहता है! इसी लिए फिर दुहरा रहा हूं कि प्रभाष जोशी नहीं जले नर्मदा किनारे, हम जले हैं, प्रभाष जोशी तो हम जैसे बहुतेरों में ज़िंदा हैं, ज़िंदा रहेंगे। क्यों कि प्रभाष जोशी तो न भूतो, न भविष्यति!

प्रभाष जोशी और रामनाथ गायनका के संबंध हमेशा अपरिभाषित ही रहे। तो भी जैसे आज की तारीख में कोई प्रभाष जोशी को कोई कुछ कहे तो मैं समझता हूं कि सब से पहले कोई अगर कूद कर उन के बचाव में खड़ा होगा तो वह आलोक तोमर दीखते हैं। लाख किंतु परंतु के आलोक तोमर की प्रभाष जोशी के प्रति निष्ठा अतुलनीय है। और किसी से तुलना करनी ही पड़ जाए तो मैं हनुमान से करना चाहूंगा। प्रभाष जोशी की पसंदगी-नापसंदगी अपनी जगह आलोक तोमर की प्रभाष जोशी के प्रति हनुमान की तरह निष्ठा अपनी जगह। मुझे लगता है कि कुछ-कुछ प्रभाष जोशी भी रामनाथ गायनका के प्रति आलोक तोमर की तरह ही निष्ठावान थे। गायनका के खिलाफ जोशी जी ने कभी चूं तक नहीं की। बल्कि

कई बार वह राणा के चेतक की तरह गोयनका के इशारों को भाप लेते थे। गोयनका की इंदिरा गांधी से लड़ाई विख्यात थी। पर एक्सप्रेस बिल्डिंग के एक्सटेंशन मसले पर उन्होंने ने राजीव गांधी से निगोशिएट किया यह भी छुपा नहीं है। फिर तो राजीव गांधी के लिए जो कसीदे लिखे जोशी जी ने वह कैसे भूला जा सकता है? राजीव लोंगोवाल समझौते से जो वह शुरू हुए तो बाद में राजीव गांधी के नाक-नक्श पर भी लिखने में गुरेज नहीं किए। पर बाद में जब बोफोर्स को ले कर वी.पी. सिंह खातिर लामबंदी में गोयनका उतरे तो प्रभाष जोशी के कलम की तलवार भी वी.पी. सिंह के पक्ष में खूब चमकी। वह वी.पी. सिंह के साथ गलबहियां डाले भी बार-बार देखे गए। चंद्रशेखर के दिनों में भी प्रभाष जोशी उन के साथ बार-बार देखे गए। वैसे भी गोयनका और चंद्रशेखर के संबंध जे.पी. के समय से ही फलीभूत थे। गरज यह कि गोयनका के चेतक थे ही थे जोशी जी। इतना कि उन के खिलाफ वह एक शब्द भी नहीं सुन सकते थे।

साभार- http://sarokarnama.blogspot.com/2012/01/blog-post_9087.html से